चिन्ता के क्षेत्रों पर एक नजर : भगवाकरण, असमानता और निजीकरण पर क्या कहता है परामर्श दस्तावेज?

अमन मदान

शायद अच्छा होगा कि परामर्श-दस्तावेज (Inputs Document) पर चर्चा की शुरुआत उन पद्धतीय समस्याओं को ध्यान में लेते हुए की जाए, जो किसी भी नीति-दस्तावेज को पढ़ने में और उस की व्याख्या करते समय आ सकती हैं। सम्भावना है कि इनमें एक अर्थ देने वाले स्पष्ट सन्देश न हों – यह हमें स्वीकारना चाहिए। कई अन्य किस्म के पाठों की तरह इन्हें भी अलग-अलग तरह से पढ़ा जा सकता है। इन्हीं के भीतर कई - और बहुत बार परस्पर-विरोधी, उलझे हुए - स्वर सुनाई पड़ते हैं। कभी-कभी ये प्रयास भी हो सकते हैं कि कुछ मुद्दों को जान-बूझकर अस्पष्ट तथा अपारदर्शी रखते हुए उन्हें कई व्याख्याओं के लिए खुला छोड़ दिया जाए। कुछ हद तक यह अपरिहार्य भी है, क्योंकि जब एक दस्तावेज परामर्श और सहयोग की प्रक्रिया से होकर निकलता है तो इसी प्रक्रिया के भीतर कई संघर्ष और समझौते भी रहे होंगे। जब हम नीति-दस्तावेजों की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं, तो हम शायद बस कुछ केन्द्रीय विषयों के लिए ही नजर खुली रख सकते हैं और देखने की कोशिश कर सकते हैं कि कैसे किसी एक तरीके से ही नहीं, बल्कि अलग-अलग तरह से उनसे सम्बोधित हुआ गया है। जो कहा गया है, उसे तो हम देखते ही हैं, साथ ही कई आवाजों की उपस्थिति के अलावा हम चुप्पियों को भी खोजने की कोशिश कर सकते हैं और विचार कर सकते हैं कि वे महत्वपूर्ण हैं या कि बस संयोगवश। ऐसे दस्तावेजों की समीक्षा करते समय यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि उन्हें किन तरीकों से प्रयोग किया जा सकता है। बाद के समय में लोग एक नीति-दस्तावेज को अपने-अपने एजेण्डा के पक्ष में इस्तेमाल करेंगे और बाकी सब बातों को अनदेखा करके बस उन बातों को निकालकर लाया जाएगा जो किसी विशेष एजेण्डा के पक्ष में जाती हैं। आशा की जा सकती है कि हिन्दुत्ववादी और धर्मनिरपेक्ष लोग, निजीकरण के समर्थक और वे जो शिक्षा के लिए राज्य की सहायता को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, सब एक ही दस्तावेज से अलग-अलग सिफारिशें उद्धृत करेंगे। जब हम नीति-दस्तावेजों की व्याख्या करते हैं, तो अच्छा यह रहता है कि हम उनसे कोई केवल एक सारगर्भित सन्देश निकालने की कोशिश न करें। बेहतर शायद यह हो कि उन्हें उनकी जटिलता के साथ देखा जाए, उनमें मौजूद कई आवाजों के साथ, क्योंकि इससे यह कल्पना करने में मदद मिलेगी कि ऐसे दस्तावेज का अन्ततः कितने तरीकों से इस्तेमाल किया जा सकता है।

परामर्श-दस्तावेज में उठाए गए कई विचारों और मुद्दों में से मैं केवल तीन पर ध्यान केन्द्रित करूँगा : शिक्षा का भगवाकरण, अधिक सामाजिक बराबरी को बढ़ावा एवं समर्थन, और शिक्षा का निजीकरण। ये वे क्षेत्र हैं, जिनके बारे में बहुत लोगों ने प्रासंगिक रुचि और चिन्ता व्यक्त की है – इस बात को लेकर, कि राष्ट्रीय नीति किस दिशा में जा सकती है। ये वे क्षेत्र भी हैं, जिनमें बहुत लम्बे समय से मेरी दिलचस्पी रही है।

भगवाकरण

परामर्श-दस्तावेज के जारी होने पर हममें से कई लोगों के दिमाग में पहला सवाल इस बात से सम्बद्ध था कि क्या इसकी सिफारिशों में हिन्दुत्ववादी दावा होगा? यह आशंका विशेष तौर से इसलिए थी क्योंकि सम्पूर्ण कमेटी में शिक्षाविद और अकादमिक व्यक्ति केवल एक ही थे। इसलिए यह देखकर आश्वस्त हुआ जा सकता है कि हिन्दू श्रेष्ठता का कोई तीखा दावा या अल्पसंख्यकों का दानवीकरण नहीं किया गया है। दस्तावेज के अधिकतर हिस्से में इस्तेमाल की गई भाषा काँग्रेस-प्रायोजित दस्तावेजों की याद दिलाती है – याद दिलाती है कि किस तरह वे भारतीय शिक्षा में संस्कृति की भूमिका का चित्रण करते थे। बार-बार विविधता का आदर करने और सहनशीलता को बढ़ावा देने के महत्व का जिक्र किया गया है (उदाहरण के लिए, पृष्ठ 14, 30)। इस बात को भी स्थाई तौर पर दोहराया गया है कि विद्यार्थी अपने देश और उसकी विरासत पर गर्व करना सीखें (पृष्ठ 14)। लेकिन युवा वर्ग अपने देश पर गर्व करें, इस इच्छा के होने में हैरत की बात क्या है? यह आजादी के बाद की विभिन्न शिक्षा-रिपोर्टों और नीति-कथनों में एक सूत्र की तरह मौजूद रहा है।

दो-एक छोटी-छोटी हिचकियाँ हैं लेकिन क्योंकि वे काँग्रेस के समय में भी रही थीं, इसलिए उन के बारे में निश्चित तौर पर कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, भारत में शिक्षा के इतिहास का संक्षिप्त वृत्तांत प्रारम्भिक बीसवीं सदी के राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की मूल व्यवस्था का अनुसरण करता प्रतीत होता है। बीते समय की इस बोधात्मक क्रम-

व्यवस्था के मुताबिक महान ऐतिहासिक उपलब्धियाँ तो बस वैदिक और ब्राह्मणवादी परम्पराओं में ही हुई थीं। कहानी वेदों से शुरू होती है, संस्कृत की उपलब्धियों की ओर बढ़ती है, बीच की सदियों पर से एक लम्बी छलाँग लगाती है, और औपनिवेशिक काल में शिक्षा पर विचार करने वाले भारतीयों के बारे में बात करना शुरू करती है। गैर-संस्कृत संस्कृतियों, तमिल संगम परम्परा, फ़ारसी और जनभाषाओं की परम्पराओं की अनुपस्थिति, शिक्षा पर ब्राह्मणवाद के प्रभुत्व की समस्या आदि – इनमें से किसी का भी न होना हैरत पैदा नहीं करता क्योंकि इन्हें चुप रखना शिक्षा पर काँग्रेस के विमर्शों का पुराना ताना-बाना रहा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के चित्रण में यह सामान्य बात है। हमें अब यह एहसास हुआ है कि भारत के भूतकाल की यह तस्वीर अधूरी और एक-आयामी है। बीते समय में कई अन्य सांस्कृतिक धागे भी रहे हैं। कभी-कभी उनकी परस्पर अन्त:क्रिया से उल्लेखनीय नए मिश्रण और फलन-फूलन हुए थे। और इनके फलस्वरूप कभी-कभी भयानक दमन भी हुए।

शिक्षा से सम्बद्ध कल्पना-दृष्टि में भारत की इस अधिक सम्पूर्ण तस्वीर की अनुपस्थिति की वजह से मैं खुद को इस बारे में कुछ अनिश्चितता की स्थिति में पाता हूँ कि दस्तावेज में किस उद्देश्य का इरादा है। मुसलमानों के आने से ब्राह्मणवादी स्वर्ण-युग के ढह जाने की कहानी झूठी है लेकिन यही कट्टर हिन्दू समूहों का मुख्य सहारा बन गई है। यह कहानी मध्ययुगीन काल की सब उपलब्धियों की तथा विभिन्न वर्गों, इलाकों, समुदायों और एक-दूसरे संग संघर्षरत संस्कृतियों की पेचीदगियों की भी अवहेलना करती है। लेकिन यह संकुचित वृत्तांत काँग्रेस के समयकाल में भी रहा। प्रो. कृष्ण कुमार इस ओर बार-बार इशारा करते रहे हैं कि काँग्रेस के नेतृत्व में भारतीय संस्कृति के विमर्श और चर्चाओं ने आज से बहुत पहले शिक्षा के साम्प्रदायीकरण को वैधता प्रदान की थी। इस अर्थ में 19वीं सदी के भारत में उभरकर आई कुछ विशेष चर्चाओं और विमर्शों को आगे ले जाने का काम हिन्दुत्ववादी करते रहे हैं और ये विमर्श तथा चर्चाएँ कई राजनैतिक समूहों में भी साझा रहे। इस निरन्तरता के चलते उन्हें आश्वासन और वैधता प्राप्त रहते हैं। इसके मुकाबले, इतिहास के अधिक कड़ाई से हुए अध्ययनों से जाहिर होता है कि हमारा भूतकाल 'हिन्दुत्व के स्वर्णिम युग और इस्लाम द्वारा उसका विनाश' की कहानी से कहीं अधिक जटिल है।

मेरे दिमाग में कई सवाल उठते हैं। क्या राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मार्गदर्शन करने वाले एक दस्तावेज से यह अपेक्षा रखना, कि वह इस विमर्श से अवगत रहे कि भारत के भूतकाल को कैसे देखा जाए, आवश्यकता से अधिक आशा रखना है? क्या वर्तमान दस्तावेज का भारतीय संस्कृति को प्रस्तुत करने के काँग्रेस के तौर-तरीकों की संगति में होना समकालीन हिन्दुत्व की हिंसा एवं आक्रामकता का खण्डन और अस्वीकृति है? या क्या यह उस पर एक मुलम्मा चढ़ाने का तरीका है, उसे अधिक सम्माननीय एवं परम्परागत रूप में प्रस्तुत करने का तरीका है? मैं तो बस यही आशा कर सकता हूँ कि दस्तावेज इन दोनों में से पहली बात कर रहा हो, न कि दूसरी। लेकिन यह आशा तो है ही कि भारत के सांस्कृतिक भूतकाल की ऐतिहासिक संकल्पना अधिक सटीक एवं सूचना-सम्पन्न हो।

बेहतर तो यह होता कि हिन्दुत्ववादी शिक्षा द्वारा केन्द्रीय-सज्जा के रूप में स्वीकार कर ली गईं बँधी-बँधाई, रूढ़िगत बातों के साँचे को तोड़ा जाता। मिसाल के तौर पर, मूलपाठ-विषयक ज्ञान की श्रेष्ठता के ब्राह्मणवादी प्रतिमानों पर सवाल उठाए जाते तो अच्छा लगता। मध्ययुगीन काल में उभरकर आने वाले संस्कृतियों के मिश्रण तथा उसी काल में भारत के विश्वविद्यालयों में न्याय सम्बन्धी, खगोलशास्त्रीय एवं चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान-संचय के बारे में भी सुनना अच्छा लगता। भारतीय संस्कृति और उसकी शिक्षा प्रणालियों की अधिक यथार्थवादी तस्वीर पेश करने वाले ऐसे ही कई अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस बारे में चुप्पी का अर्थ है उन लोगों द्वारा आपको आसानी से अपने साथ मिला लिया जाना जो दक्षिण एशिया क्षेत्र में राज्यों तथा सत्ता की सामाजिक संरचनाओं के साथ ज्ञान-निर्माण के रिश्ते पर व्यापक होते अनुसंधान की गति से मेल नहीं रख पाए हैं। अधिक जटिल यथार्थ पर बल दिया जाता तो अपनी ओर कर लिए जाने की इस सम्भावना को रोकना आसान हो जाता। और तब इस बात में अधिक सच्चा होने का गुण भी होता।

सामाजिक गैर-बराबरी

भारत की शिक्षा व्यवस्था के सामने सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है बड़े पैमाने पर सामाजिक गैर-बराबरी की समस्या। बेहतरीन स्कूलों में जाने वाले बच्चों की संख्या बहुत कम है जबकि बहुत अधिक संख्या में बच्चे कम स्टाफ वाले, बुरी

तरह से चलाए जा रहे, लगभग ठप्प से स्कूलों में जाने को बाध्य हैं। यह एक महत्वपूर्ण अन्तर-राष्ट्रीय रुझान रहा है कि गरीब और समाज के हाशिए पर पड़े बच्चों के लिए स्कूलों को बेहतर बनाने पर बल दिया जाए। दुनिया भर की शिक्षा-व्यवस्थाओं में यह सभी मुख्य-सुधारों के केन्द्र में रहा है।

यह एक ऐसी चुनौती है जिसका सामना किया जाना बाध्यकारी सा हो चला है। इसीलिए नई शिक्षा नीति में कौन-सी नई पहलकदमियाँ और रणनीतियाँ हो सकती हैं, इस बात को लेकर काफी जिज्ञासा थी। शिक्षा में सामाजिक गैर-बराबरी को कैसे कम किया जाए और शिक्षा के क्या नतीजे हों, इसको लेकर परामर्श-दस्तावेज में एक बहकी सी दृष्टि दिखाई देती है। कुछ जगह तो यह दस्तावेज पक्के तौर पर समतावादी दिखाई देता है जबकि अन्य जगह सामाजिक असमानता को बढ़ाने वाली ताकतें आसानी से इसका इस्तेमाल कर सकती हैं। सकारात्मक पहलू यह भी है कि कई बिन्दु आते हैं जब विशेष तौर से समाज के हाशिए पर पड़े समूहों (जैसे कि एस.सी., एस.टी. ओ.बी.सी., मुस्लिम तथा अन्य के मुकाबले पिछड़ गए इलाकों के लोगों) के दाखिलों में बढ़ोतरी से सम्बद्ध सरोकार को मजबूती से अभिव्यक्ति दी गई है (उदाहरण के लिए पृष्ठ 10, 15)।

'समावेशी शिक्षा और विद्यार्थी-समर्थन' (पृष्ठ 23-25) वाले खण्ड में इस बात की स्वागत-योग्य स्वीकृति है कि विद्यार्थी-समर्थन को बस बाद में आए एक ख्याल के तौर पर नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि इसे हमारी शिक्षा व्यवस्था के स्तम्भों में से एक बनना होगा। बड़ी संख्या में विद्यार्थी ऐतिहासिक और भौतिक-शारीरिक तौर पर वंचित पृष्ठभूमियों से आते हैं। फिर उन्हें यह संघर्ष करना पड़ता है कि खुद को उनके बराबर ला पाएँ जिनकी परिस्थितियाँ ऐतिहासिक तौर पर बेहतर रही हैं। आवश्यकता है कि प्राइमरी स्कूल से लेकर विश्वविद्यालयों तक शिक्षण संस्थाएँ विद्यार्थियों की सहायता की प्रक्रिया को अपनी नियमित कार्यविधि का एक हिस्सा बनाएँ ताकि ये विद्यार्थी स्वयं में छुपी प्रतिभा को प्रदर्शित कर पाएँ।

इन तथा अन्य कई समता-हितैषी कदमों के बावजूद महसूस होता है कि इस दस्तावेज में इस बात पर और अधिक ध्यान दिए जाने की आवश्यकता थी कि असल में समता को बढ़ावा देने के लिए कैसे काम किया जाए। इस बात का कोई जिक्र नहीं है कि भारत में शिक्षा से सम्बद्ध असमानता अब भी इतनी तीखी क्यों है, जबकि उच्चतम, मध्य और निचले स्तरों के बीच इतनी अधिक असमानताएँ हैं। उदाहरण के लिए, एक के बाद एक शिक्षा-आयोग एवं शिक्षा-नीतियाँ इस माँग को लेकर कुछ कामयाबी हासिल नहीं कर पाई हैं कि सकल घरेलू उत्पाद का 6% शिक्षा पर खर्च हो। यदि इस बात पर ही कोई चिन्तन नहीं है कि क्यों यह माँग पूरी नहीं की गई है, तो सोचने की बात है कि क्या अब के इन नीति-प्रस्तावों का भी वही हश्र तो नहीं होगा जो 1968 और 1992 की राष्ट्रीय शिक्षा-नीतियों का हुआ था? यहाँ प्रस्तावित रणनीति में विशेष तौर से ऐसा क्या अलग है जिससे इसके कामयाब होने की अधिक सम्भावना बने? क्या यह इस बात को स्वीकारती है कि कुछ निहित स्वार्थ अच्छी शिक्षा के फैलाव के विरुद्ध खड़े हैं? वे स्वार्थ क्या हो सकते हैं? क्या कोई अन्य तरह की बाधाएँ भी हैं? उन पर कैसे जीत हासिल की जाएगी? इन मूल प्रश्नों पर कोई रौशनी नहीं डाली गई है।

एक और मूल समस्या पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी गई है, और वह है स्कूली पाठ्यचर्या के सामाजिक पूर्वाग्रह। फुले के समय से लेकर अब तक हम यह आलोचना सुनते आए हैं कि शैक्षिक पाठ्यचर्या तथा स्कूलों की संस्कृतियों का रूझान अर्थव्यवस्था के शहरी, संगठित सेक्टर की आवश्यकताओं की ओर रहता है, खासतौर से उद्योग एवं सेवाओं की ओर। मौजूदा नीति-दस्तावेज इसे समस्या का क्षेत्र नहीं मानता और शिक्षा के लाभों के विस्तार पर बल देते हुए इस में कृषि, दस्तकारी तथा असंगठित क्षेत्र को शामिल करने की कोई बात नहीं की गई है। अगर हम भारत में शैक्षिक एवं सामाजिक असमानताओं को कम करना चाहते हैं तो पाठ्यचर्या के इन तत्वों को निरन्तर हाशिए पर नहीं रखा जा सकता। असल में तो इस सम्पूर्ण दस्तावेज के विभिन्न हिस्सों में हमें स्कूली पाठ्यचर्या में क्या होना चाहिए, इस बाबत आमतौर पर प्रचलित धारणाओं की ही एक भोली-सी स्वीकृति देखने को मिलती है। दस्तावेज इस बात को मानता हुआ नहीं दिखाई देता कि पाठ्यचर्या की भी एक सांस्कृतिक राजनीति होती है जिसके माध्यम से कुछ विशेष वर्गों, व्यवसायों, जातियों, पुरुष वर्ग, कुछ विशेष भाषाओं और क्षेत्रों को बल मिल सकता है। इस प्रकार, महिलाओं या उत्तर-पूर्व आदि के लोगों की अधिक सदृश्यता या उन्हें अधिक सक्रिय भूमिका देने के बारे में कोई सिफारिश

नहीं है। ज्ञान को चर्चा के लिए खोलने के मकसद से उसे एक समस्या के रूप में रखने और उसे रचने तथा पुनरुत्पादित करने के लिए कुछ कमजोर और यदा-कदा से इशारे भर किए गए हैं। बार-बार इस बात का जिक्र किया गया है कि दक्षताएँ सिखाई जाएँ और सूचना सम्प्रेषण प्रौद्योगिकी (आई.सी.टी.) का प्रयोग किया जाए। लेकिन इससे सुझाया यह जा रहा है कि भारतीय शिक्षा में समस्याएँ तो बस तकनीकी ज्ञान और वह भी औद्योगिक किस्म के ज्ञान की ही हैं (कृषि-सम्बन्धी या किसी अन्य किस्म की नहीं)। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में ज्ञान से सम्बद्ध समस्या को देखने का यह अत्यधिक साधारण-सामान्य तरीका है। अगर हम सामाजिक बराबरी को तेजी देना चाहते हैं, तो हमें उन ज्ञानों को भी बढ़ावा देना होगा जो गरीब और हाशिए पर पड़े लोगों का सशक्तीकरण कर पाएँ तथा उन्हें समाज में पहले से अधिक ध्वनि और अधिक गतिशीलता भी मिल पाए। इसका अर्थ है कि इस बात पर एक ताजा नजर डालना होगी कि हम किस प्रकार की संस्कृति की शिक्षा देते हैं – और ऐसी संस्कृतियों को बढ़ावा दिया जाए जिनसे सशक्तीकरण होता है और जो आजाद करती हैं।

पूरे दस्तावेज में घिसे-पिटे मुहावरों को दोहराया गया है, जिनसे लगता है कि जैसे यह दस्तावेज भारतीय समाज की जरूरतों को लेकर पीढ़ियों से होती आई बहस के इर्द-गिर्द हुए बड़े आकार के काम से अनजान है। एक उदाहरण (पृष्ठ 21 पर) भारत के संविधान में से अधिकार और कर्तव्य पढ़ाने के महत्व के जिक्र का है। जैसा कि स्कूलों में सामाजिक-विज्ञान के शिक्षण से सम्बद्ध अनगिनत विद्वानों ने ध्यान दिलाया है, हमें संवैधानिक मूल्यों के शिक्षण के प्रति एक नए और ताजा नजरिए की जरूरत है। भारत में अधिकार और कर्तव्य कई दशकों से इस तरह पढ़ाए जाते रहे हैं कि सारी बात आमतौर पर वाक्यांशों के तोता-रटन्त में सिमटकर रह जाती है। असल में तो बिना दिमाग लगाए, केवल अंक हासिल करने के लिए संविधान के बारे में सीखना-सिखाना कई बार यह अर्थ देने में भी भूमिका निभाता है कि जैसे संविधान एक मर चुका, अप्रासंगिक दस्तावेज है और स्वयंभू तरीके से कानून को अपने हाथ में लेकर ही काम बनता है। व्यर्थ ही आप दस्तावेज में दी गई नीतिगत सिफारिशों में किसी ऐसे विकल्प को तलाशते हैं, जो राजनैतिक और समाजशास्त्रीय ज्ञान को हमारी शिक्षा-व्यवस्था के जीवन्त हिस्से के तौर पर निर्मित करता है। जब युवा लोग इस बात को समझना शुरू करेंगे कि अधिकारों से सम्बद्ध विचार क्यों उभरकर आए और उनके लाभ क्या हैं, और जब वे अपने इर्द-गिर्द के संघर्षों और बहसों के स्पन्दन को महसूस करना शुरू करेंगे तब वे प्रगतिशील सिद्धान्तों को अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनाना शुरू करेंगे। इसी तरह की शिक्षा-पद्धतियों और पाठ्यचर्याओं के माध्यम से सम्भावना बनेगी कि अपने आसपास के अन्य लोगों का आदर करने वाला, लोकतांत्रिक और चिन्तनशील सामाजिक व्यवहार उभरना शुरू हो।

लेकिन कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि दस्तावेज इस बात को महत्व नहीं देता कि युवा लोग समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था के बारे में जानें-सीखें। ऐसे में इस बात पर विचार कैसे हो सकता है कि युवाओं को यह सिखाने का सबसे बेहतरीन तरीका क्या है कि वे अपने आसपास के मसलों पर सक्रिय तथा न्याय-प्रवृत्त दिलचस्पी लें? दस्तावेज की अवधारणात्मक रूपरेखा से सामाजिक-विज्ञान और मानविकी पूरी तरह से गायब हैं। इसकी बजाए 'नैतिक शिक्षा' को सामाजिक न्याय, समानता, महिलाओं के प्रति आदर इत्यादि को बढ़ावा देने के लिए पर्याप्त मान लिया गया है (पृष्ठ 31)। मानविकी एवं सामाजिक-विज्ञान को पोषित करने के महत्व की ओर आमतौर पर कोई ध्यान न दिया जाना 1986/1992 के दस्तावेज की तुलना में एक महत्वपूर्ण बदलाव है जबकि उसमें कम से कम ऊपरी तौर पर ही सही, लेकिन इनकी बात तो की गई थी। यह हमें उस भोलेपन की भी याद दिलाता है जिसके तहत कई राजनैतिक और सामाजिक समूह स्वयं में मूल्यों की शिक्षा सिखाने की बात करते हैं, जैसे कि यह राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्धों की गतिशीलता के हवाले के बिना भी सिखाए जा सकते हों।

समकालीन भारतीय शिक्षा की एक दुखद विशेषता यह है कि सामाजिक असमानता को समझने और उसके साथ जूझने की सामर्थ्य प्रदान करने वाले विषय-क्षेत्र और ज्ञान पिछड़ गए हैं, उन्हें अब पहले जैसा महत्व नहीं दिया जाता। हमें सामाजिक असमानता के व्यवस्थागत कारणों को देखना होगा, तब ही हम उसकी जड़ों को निकालना शुरू कर पाएँगे। दुर्भाग्य से यह दस्तावेज भारतीय संस्कृति में बढ़ रही इस अनभिज्ञता को ही व्यक्त करता है। यह आशा करना कि वह स्वयं द्वारा व्यक्त कमी के बारे में कुछ प्रतिक्रिया देगा, शायद असम्भव के पूरा होने की उम्मीद जैसा ही होगा।

निजीकरण

शिक्षा का निजीकरण वह ऊँट है जो भारतीय शिक्षा के टेन्ट में घुस गया जबकि किसी भी मुख्य राष्ट्रीय नीति-दस्तावेज ने उसे यह निमंत्रण नहीं दिया था। अब तो वह टेन्ट पर भी अपना अधिकार जमाने लगा है। तृतीय स्तर की शिक्षा, यानी महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में, अधिकतर विद्यार्थी निजी संस्थाओं में हैं और स्कूली शिक्षा में भी उनकी संख्या साल-दर-साल बढ़ ही रही है। 1986/1992 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति द्वारा इतने जबरदस्त परिवर्तन का अनुमोदन कभी नहीं किया गया था, जबकि पाठ्यचर्याओं की राजनीति तथा सामाजिक असमानता पर भी इसके कितने ही प्रभाव एवं परिणाम हैं। वर्तमान परामर्श-दस्तावेज भी शिक्षा के निजीकरण की पड़ताल एक नीतिगत स्थिति या रणनीति के रूप में सीधे तौर पर नहीं करता है। निजीकरण अब जीवन के एक सामान्य तथ्य की तरह दिखाई देता है जिसे एक आवश्यक बुराई की तरह स्वीकार कर लिया गया है। निजीकरण के लाभों और उसकी कीमत के बारे में मूल सोच-विचार का अभाव एक पहेली की तरह है। नीतिगत दस्तावेजों से आशा की जाती है कि विवादास्पद मुद्दों पर कोई सीधी बात की जाएगी, बताया जाएगा कि वह उसके पक्ष में है या विपक्ष में और किसी समझौते, बीच के हल के बारे में सोचा जा रहा है, तो वह क्या है? लेकिन दस्तावेज में निजीकरण पर एक गम्भीर, सीधी चर्चा की खोज करना व्यर्थ ही है।

कई कथन हमें आश्वस्त करवाते हैं कि सरकार सबके लिए अच्छी शिक्षा सुनिश्चित करवाने की अपनी जिम्मेदारी को नहीं त्यागेगी। इनमें (1968 और 1986/92 की नीतियों के साथ ही) इस बात की पुन: पुष्टि शामिल है कि सकल घरेलू उत्पाद का 6% अवश्य ही शिक्षा पर लगाया जाना चाहिए। यह बात बल देकर कही गई है कि भारत में शिक्षा को 'एक सार्वजनिक सेवा माना जाना चाहिए' (पृष्ठ 40)। यह ध्यान देने की बात है कि केवल प्राइमरी शिक्षा या स्कूली शिक्षा ही नहीं, बल्कि आमतौर पर शिक्षा को सार्वजनिक हित की वस्तु कहा जा रहा है, जो पानी और हवा की तरह सबको उपलब्ध होनी चाहिए। निजी सेक्टर द्वारा किए जाने वाले उत्कृष्टता के दावों (पृष्ठ 8) के बारे में भी संशयवादी टिप्पणियाँ मौजूद हैं और उनके तथाकथित तौर पर सरकारी स्कूलों से उत्तम होने से सम्बद्ध टिप्पणी भी है।

इसी के साथ-साथ 'शिक्षा क्षेत्र में मुख्य चुनौतियाँ' के शीर्षक वाले अध्याय में निजीकरण, और शिक्षा के बढ़ते दामों तथा इसके परिणामस्वरूप सामाजिक असमानताओं के तीखा होने की बात मुख्य विषय के तौर पर सामने नहीं आती। यह भी एक न समझ में आने वाली बात है क्योंकि निजीकरण सच में भारतीय शिक्षा में असमानता के बढ़ने के बड़े कारणों में से एक है। पहुँच से सम्बद्ध असमानताओं पर तो कई अन्य समस्याओं के साथ चर्चा की गई है, लेकिन इन्हें बल प्रदान करने में निजीकरण की भूमिका को चर्चा के लायक नहीं माना गया लगता। 'शासन एवं प्रबन्धन' पर एक खण्ड में शिक्षा के व्यापारीकरण के बारे में एक वाक्य तो है (पृष्ठ 12) मगर इससे अधिक कुछ भी तो नहीं।

शिक्षा के लिए वित्तीय व्यवस्था पर खण्ड में परोपकारी एवं कॉरपोरेट सामाजिक जिम्मेदारी (सी.एस.आर.) से सम्बद्ध संस्थाओं द्वारा शिक्षा को बढ़ावा देने की उनकी भूमिका का स्वागत किया गया है। लेकिन कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि शिक्षा को लाभ के लिए गतिविधि नहीं माना जाना चाहिए। यह एक महत्वपूर्ण अर्थभेद है क्योंकि कुछ पी.पी.पी सुझावों को इसी विशेष बिन्दु पर प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा है। बहुत लोगों ने इस बात का भय व्यक्त किया है कि सी.एस.आर. के नाम पर सार्वजनिक संसाधन निजी हाथों में सौंपे जा सकते हैं ताकि उन्हें बड़ा लाभ प्राप्त हो पाए। अच्छा होता अगर यह स्पष्टीकरण दिया जाता कि बचाव के लिए पर्याप्त कदम उठाए जाएँगे ताकि सार्वजनिक संसाधनों को पहले से ही अमीर लोगों के लिए लुके-छुपे तरीके से निजी पूँजी के रूप में निर्मित न कर लिया जाए। इस तरह की संवेदनाओं का दस्तावेज में न होना चिन्ता को जन्म देता है।

भारत में शिक्षा का बढ़ता निजीकरण विद्यार्थियों के लिए ऋणों की लोकप्रियता में अभिव्यक्त हो रहा है। इसकी कुछ स्पष्ट समस्याएँ हैं, क्योंकि इससे ऋण बाजार की प्रक्रिया में उसको खींच लाते हैं जिसे शायद बाजार की गतिविधि के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसके केन्द्र में विचार यह है कि हम शिक्षा को नैतिक विकल्पों/अभिरुचियों द्वारा संचालित देखने की इच्छा रखते हैं या फिर इससे संचालित, कि अधिकतम वेतन किससे मिलता है। अगर हम हर प्रकार की शिक्षा के लिए उच्च फीस लेना शुरू कर देते हैं, तो केवल वे व्यवसाय एवं विषय-क्षेत्र फलेंगे-फूलेंगे जिनसे उच्च-स्तर का वापसी मुद्रा-लाभ

मिलता होगा, क्योंकि लोग दिए गए धन की वापसी तो कम से कम चाहेंगे ही। लेकिन कई ऐसे व्यवसाय हैं जो समाज को काफी अधिक वापसी मुद्रा-लाभ तो देते हैं लेकिन आवश्यक नहीं है कि वे उच्च स्तर के वेतन भी देते हों। उदाहरण के लिए अगर हम किसी से एक करोड़ रुपया लगाकर मेडिकल डॉक्टर बनने को कहें तो वह व्यक्ति उस धन को अपने व्यवसाय के माध्यम से वापिस पाने की कोशिश करेगा। अधिकतर लोग स्वीकारेंगे कि हम नहीं चाहते कि डॉक्टर ऐसा करें। हम चाहते हैं कि वे कम से कम दाम पर अपने मरीजों की सेवा करने के बारे में सोचें – यह न सोचें कि वे किस तरह महँगे इलाज के जरिए अपनी शिक्षा पर हुए खर्च को पूरा कर सकते हैं।

अमेरिकन कम्पनियों के लिए सॉफ्टवेयर तैयार करने का प्रशिक्षण पाने वाले विद्यार्थी से प्रशिक्षण हेतु काफी अधिक शुल्क लिया जाना ठीक हो सकता है। यह विद्यार्थी पर निर्भर होगा और इस पर भी कि ऐसा काम करने वाले को रोजगार देना अमेरिकन कम्पनियों की नजर में सस्ता पड़ता है कि नहीं। लेकिन जहाँ उम्मीद यह की जाती हो कि शिक्षा हमारे अपने समाज को कुछ लौटाएगी, तब हमें इस बारे में बहुत सावधान होना होगा कि शिक्षा द्वारा दिए जाने वाले सामाजिक लाभों पर अधिक फीस का क्या प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, अगर हम एक बी.एड. कॉलेज को उच्च फीस लेते हुए बाजार-मॉडल के मुताबिक चलाने पर बल देते हैं, तो हम आशा कर सकते हैं कि उस कॉलेज से स्नातक होकर निकलने वाले विद्यार्थी बहुत महँगे निजी स्कूलों में अत्यधिक वेतन पर ही काम करना चाहेंगे। स्पष्ट ही है कि वे अपनी शिक्षा पर लगाए गए धन को वापिस हासिल करना चाहेंगे। लेकिन इससे यह समस्या भी खड़ी होगी कि ग्रामीण इलाकों में जाकर पढ़ाने को कौन तैयार होगा?

इसी तरह की समस्याओं के चलते बहुत लोग दलील देते हैं कि शिक्षा को तो एक सार्वजनिक सेवा होना चाहिए, न कि एक निजी सेवा या वस्तु। इस बारे में भी दलीलें दी जाती हैं कि किस तरह शिक्षा को बाजार की प्रक्रिया का हिस्सा बनाया जाए लेकिन उसे नियंत्रित करते हुए अधिकाधिक सामाजिक न्याय और कल्याण किया जा सके। दुर्भाग्य से परामर्श-दस्तावेज इस मुद्दे को सीधे तौर पर जाँचता या उस पर प्रतिक्रिया देता प्रतीत नहीं होता। विद्यार्थियों के लिए ऋण की बात की गई है (पृष्ठ 41) लेकिन बिना यह चर्चा किए, कि हम भारतीय शिक्षा का पहले से अधिक व्यापारीकरण करना, उसे एक वस्तु की तरह देखना चाहते हैं कि नहीं। बस इतना ही कहा गया है कि ऋणों को आसानी से उपलब्ध करवाया और सस्ता किया जाएगा। विद्यार्थियों के लिए ये ऋण दिया जाना अच्छी बात है भी कि नहीं, दस्तावेज में यह चर्चा का विषय है ही नहीं।

एक और बहुत ही मूल, सरल किस्म की समस्या है जिसे अर्थशास्त्र की अधिकतर परिचयात्मक पाठ्य-पुस्तकें स्वीकारती हैं मगर जिस जिक्र यह दस्तावेज नहीं करता। बाजार अन्तर्निहित तौर पर सामाजिक असमानता को बढ़ाने की ओर प्रवृत्त होते हैं। अगर शिक्षा भी बाजार की प्रक्रिया का हिस्सा बन जाती है तो हम यह कैसे सुनिश्चित करेंगे कि वह भी एक ऐसी वस्तु न बन जाए जिसे गरीबों के मुकाबले अमीर अधिक आसानी से खरीद सकते हैं? परामर्श-दस्तावेज या तो इस बात के बारे में समझ नहीं रखता या इस पर उस का कोई रुख ही नहीं है। या फिर हम टिप्पणी के न होने को ही उस का रुख मान लें? हम अनुमान ही लगा सकते हैं।

इसका अर्थ है कि यहाँ विरोधाभासी आवाजें हैं। एक ओर तो यह कथन है कि पारिवारिक या सामाजिक पृष्ठभूमि चाहे जो भी हो, शिक्षा सबको उपलब्ध होनी चाहिए। दूसरी ओर बढ़ती हुई सामाजिक असमानता के खतरों के बारे में सोच-विचार किए बिना निजीकरण की वस्तुत: स्वीकृति है। उन सांस्कृतिक विकृतियों की भी कोई चर्चा नहीं है जो शिक्षा को एक वस्तु के रूप में देखने पर पैदा होती हैं, जब उसके सांस्कृतिक, राजनैतिक और सामाजिक लाभ की बजाए उस से प्राप्त होने वाले वित्तीय लाभ को ध्यान में रखकर उसे हासिल करने की कोशिश होती है।

बेहतर होता अगर नीति के लिए दिए गए परामर्श इस सवाल से सीधे तौर पर रू-ब-रू होते। जिक्र किया जा सकता था कि परोपकारी और निजी हितधारकों का, अपना योगदान देने के लिए तब तक स्वागत है, जब तक कि उनकी गतिविधियों से सामाजिक असमानता में बढ़ोतरी न हो या गरीबों की कीमत पर लाभ उठाने की कोशिश न हो। कहा जा सकता था कि यह देश केवल इसलिए किसी को मौके देने से या सकारात्मक मदद देने से इनकार नहीं कर देगा क्योंकि उस का जन्म एक गरीब और समाज के हाशिए पर पड़े परिवार में हुआ। और यह भी कहा जा सकता था कि जिन क्षेत्रों का सांस्कृतिक एवं

नैतिक मूल्यों द्वारा निर्देशित होना आवश्यक है, उनमें शिक्षा को लाभ कमाने के तर्क के तहत संचालित नहीं होने दिया जाएगा। फिलहाल यह दस्तावेज इस बात का पर्याप्त ध्यान रखता प्रतीत नहीं होता कि इन मुद्दों को अस्पष्ट और संदिग्ध छोड़ने के क्या खतरे हैं।

निष्कर्ष

इस तरह के दस्तावेज को किस तरह से देखा जाए? केवल एक 'सारभूत' चरित्र को चिह्नित करने के खतरों का तो पहले ही जिक्र किया गया है। वर्तमान दस्तावेज जैसा कि वह इस समय है, कुछ पुख्ता और प्रशंसा-योग्य सिफारिशें तो करता है। लेकिन कुछ तरह से वह स्वयं के विपरीत जाता भी लगता है। कई जगह वह अलग-अलग हितों द्वारा अलग-अलग तरह से व्याख्यायित होने के लिए स्वयं को ढलने योग्य बनाता भी दिखाई देता है। दस्तावेज के रचयिता उन कई सरोकारों के इर्द-गिर्द बहसों और अन्तरराष्ट्रीय अनुभवों से अवगत नहीं लगते जिन्हें वे दस्तावेज में उठाते हैं। जब इसकी तुलना 1986/1992 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति या उससे भी पुरानी, सम्माननीय कोठारी कमीशन रिपोर्ट तथा उसकी सिफ़ारिशों, उनकी कहीं अधिक समृद्ध दृष्टि तथा विभिन्न मुद्दों के चित्रण एवं प्रस्तुति से की जाती है, जो अपने समय के शोध एवं अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रमों के बारे में सूचनाओं द्वारा बेहतर अनुप्राणित थे, तो यह दस्तावेज हमें दरिद्र दिखाई पड़ता है। इससे हमें चेतावनी मिलती है कि जब एक देश के शासक अकादमिक लोगों एवं विद्वता पर भरोसा करना छोड़ देते हैं तथा शिक्षा का प्रबन्धन प्रशासकों के माध्यम से करना चाहते हैं तो उसके परिणाम क्या होंगे।

अमन मदान वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी के फैकल्टी सदस्य हैं। वे सामाजिक असमानता तथा अस्मिता की राजनीति के सवालों पर कार्य करते हैं। वे एकलव्य, दिगन्तर, ऐकॉर्ड आदि सहित कई गैर-सरकारी संगठनों से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे amman.madan@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** रमणीक मोहन